

गायत्री मंत्र के तद् अक्षर की व्याख्या

ब्रह्मज्ञान का प्रकाश



ब्रह्मज्ञान का प्रकाश

गायत्री मंत्र का प्रथम अक्षर 'तत्' ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति और उसके प्रचार की शिक्षा देता है—

तत्त्वज्ञास्तु विद्वान्सो ब्राह्मणः स्व तपोबलैः ।

अन्धकरमपाकुर्यः लोकादज्ञान संभवम् ॥

अर्थात् “तत्त्वदर्शी, विद्वान् ब्राह्मण अपने तप द्वारा संसार के अज्ञानजन्य अंधकार को दूर करे।”

अंधकार में अनेक प्रकार के भय, त्रास एवं विघ्न छिपे रहते हैं। दुष्ट तत्त्वों की घात अंधकार में ही लगती है। अविद्या को अंधकार कहा गया है। अविद्या का अर्थ “अक्षरज्ञान की जानकारी का अभाव” नहीं है, वरन् “जीवन की लक्ष्यभ्रष्टता” है। इसी को नास्तिकता, अनीति, माया, भ्रान्ति, पशुता आदि नामों से पुकारते हैं। इस बौद्धिक अंधकार में, आध्यात्मिक निशा में विचरण करने वाला जीव भ्रम-पतित होकर ईश्वर द्वारा निर्धारित धर्म, नीति, लक्ष्य, आचरण और कर्तव्य से विमुख होकर ऐसी गतिविधि अपनाता है जो उसके लिए नाना प्रकार के दुःख उत्पन्न करती है।

उपर्युक्त श्लोक में 'ज्ञानी ब्राह्मण' को यह आदेश दिया गया है कि वह तपश्चर्या द्वारा संसार के समस्त दुःखों के मूल कारण अज्ञानांधकार को दूर करे। यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द किसी वर्ग विशेष के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। आत्मा का सर्वप्रधान गुण ब्रह्मनिष्ठा और आध्यात्मिकता है। यह गुण जिसमें जितना न्यूनाधिक है, वह उतने ही न्यूनाधिक अंश में ब्राह्मण है। जिसकी आत्मा में जितना ब्राह्मणत्व है, वह उतना ही तपस्वी, दूरदर्शी और तत्त्वज्ञानी होता है। इसी ब्राह्मणत्व को गायत्री ने सबसे पहली चुनौती दी है, ललकारा है कि अपने व दूसरों के कल्याण के लिए ब्रह्मज्ञान का प्रकाश फैलाकर व्यापक अंधकार को हटाना तेरा परम पवित्र कर्तव्य है।

दीपक जब स्वयं जलता है तो उसका प्रकाश चारों ओर फैलता है और उससे दूर तक का अंधकार नष्ट होता है। तप, दूरदर्शिता और तत्त्वज्ञान का दृष्टिकोण अपनाने से जो अंतज्योति उत्पन्न होती है, उसी से जनता के अंतःकरणों में सत्य का प्रकाश प्रज्वलित होता है। लोक-कल्याण और आत्मोद्धार का इससे अच्छा मार्ग और कोई नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञान ही संसार का सबसे बड़ा दान है।

ब्रह्मज्ञान और आस्तिकता

ब्रह्मज्ञान का पहला लक्षण सच्ची आस्तिकता है। परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, इस सत्य को जानते तो अनेक लोग हैं, पर उसे मानते नहीं। व्यवहार में नहीं लाते। जो परमात्मा को सर्वव्यापी, घट-घटवासी मानेगा, उसका जीवन उसी क्षण पूर्ण पवित्र, निष्प्राण और कषाय-कल्मषों से रहित हो जाएगा। गीता में भगवान ने कहा है कि जो मेरी शरण में आता है, जो मुझे अनन्य भाव से भजता है। वह तुरंत ही पापों से छूट जाता है। निस्संदेह बात ऐसी ही है। भगवान की शरण में जाने वाला, उस पर सच्चा विश्वास करने वाला, उस पर पूर्ण आस्था रखने वाला, एक प्रकार से जीवनमुक्त ही हो जाता है।

ईश्वर का विश्वास और सच्चा जीवन एक ही वस्तु के दो नाम हैं। जो भगवान का भक्त है, जिसने सब छोड़कर प्रभु के चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया है, जो परमात्मा की उपासना करता है, उसे जगत्पिता की सर्वव्यापकता पर आस्था जरूर होनी चाहिए। यदि यह विश्वास दृढ़ हो जाए कि भगवान जर्ने-जर्ने में समाया हुआ है, हर जगह मौजूद है तो पाप कर्म करने का साहस ही नहीं हो सकता। ऐसा कौन सा चोर है जो सावधान खड़ी हुई सशस्त्र पुलिस के सामने चोरी का साहस करे। चोरी, व्यभिचार, ठगी, धूर्तता, दंभ, असत्य, हिंसा आदि के लिए आड़ की, परदे की, दुराव की जरूरत पड़ती है। जहाँ मौका होता है, इन बुरे कामों को पकड़ने वाला नहीं होता, वहीं इनका किया जाना संभव है। जहाँ धूर्तता को भली प्रकार समझने वालों, देखने वालों और पकड़ने वाले लोगों की मजबूत ताकत सामने खड़ी होती है, वहाँ पाप कर्मों का हो सकना संभव नहीं। इसी प्रकार जो इस बात पर सच्चे मन से विश्वास करता है कि परमात्मा सब जगह मौजूद है, वह किसी भी दुष्कर्म के करने का साहस नहीं कर सकता।

बुरा काम करने वाला पहले यह भली प्रकार देखता है कि मुझे देखने वाला या पकड़ने वाला कोई यहाँ नहीं है। जब वह भलीभाँति विश्वास कर लेता है कि उसका पाप कर्म किसी भी दृष्टि या पकड़ में नहीं आ रहा है, तभी वह अपने काम में हाथ डालता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने को परमात्मा की दृष्टि या पकड़ से बाहर मानते हैं, वे ही दुष्कर्म करने को उद्यत हो सकते हैं। पाप कर्म करने का स्पष्ट अर्थ यह है कि व्यक्ति ईश्वर को मानने का दंभ भले ही करता हो, पर वास्तव में वह परमात्मा के अस्तित्व से इनकार करता है। उसके मन को इस बात पर भरोसा नहीं है कि परमात्मा यहाँ मौजूद है। यदि विश्वास होता तो इतने बड़े हाकिम के सामने किस प्रकार उसके कानूनों को तोड़ने का साहस करता, जो व्यक्ति एक पुलिस के चपरासी को देखकर भय से थर-थर कांपा करते हैं, वे लोग इतने दुस्साहसी नहीं हो सकते कि परमात्मा जैसे सृष्टि के सर्वोच्च अफसर की आँखों के आगे न करने योग्य काम करें, उसके कानून को तोड़ें, उसको क्रुद्ध बनावें, उसका अपमान करें। ऐसा दुस्साहस तो सिर्फ वही कर सकता है, जो यह समझता हो कि 'परमात्मा' कहने-सुनने भर की चीज है। वह पोथी-पत्रों में, मंदिर-मठों में, नदी-तालाबों में या कहीं स्वर्ग-नरक में भले ही रहता होगा, पर हर जगह वह नहीं है। उसकी दृष्टि और पकड़ से मैं बाहर हूँ।

जो लोग परमात्मा की सर्वव्यापकता पर विश्वास नहीं करते, वे ही नास्तिक हैं। जो प्रकट या अप्रकट रूप से दुष्कर्म करने का साहस कर सकते हैं, वे ही नास्तिक हैं। इन नास्तिकों में कुछ तो भजन-पूजा बिलकुल नहीं करते, कुछ करते हैं। जो नहीं करते वे सोचते हैं कि व्यर्थ का झंझट मोल लेकर उसमें समय गँवाने से क्या फायदा? जो पूजन-भजन करते हैं, वे भीतर से तो न करने वालों के समान ही होते हैं, पर व्यापार-बुद्धि से रोजगार के रूप में ईश्वर की खाल ओढ़ लेते हैं। कितने ही लोग ईश्वर के नाम के बहाने ही अपनी जीविका चलाते हैं। हमारे देश में करीब ५६ लाख आदमी ऐसे हैं जिनकी कमाई, पेशा, रोजगार ईश्वर के नाम पर है। यदि वे यह प्रकट करें कि हम ईश्वर को नहीं मानते तो उसी दिन उनकी ऐश-आराम देने वाली, बिना परिश्रम की कमाई हाथ से चली जाएगी। इसलिए उन्हें ईश्वर को उसी प्रकार ओढ़े रहना पड़ता है, जैसे जाड़े से बचने के लिए गरमी देने वाले कंबल को ओढ़े रहना पड़ता है, जैसे ही यह जरूरत पूरी हुई वैसे ही कंबल को एक कोने में पटक देते हैं। यह तिजारती लोग

जनता के समक्ष अपनी ईश्वर भक्ति का बड़ा भारी घटाटोप बाँधते हैं क्योंकि जितना बड़ा घटाटोप बाँध सकेंगे उतनी ही अधिक कमाई होगी। तिजारती उद्देश्य पूरा होते ही वे अपने असली रूप में आ जाते हैं। पापों से खुलकर खेलते हुए एकांत में उन्हें जरा भी झिझक नहीं होती।

एक तीसरी किस्म के नास्तिक और हैं। वह प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के नाम से रोजी नहीं चलाते, बल्कि उलटा उसके नाम पर कुछ खर्च करते हैं। ईश्वर का आडंबर उनके द्वारा आएदिन रचा जाता रहता है। शरीर पर ईश्वर भक्ति के चिन्ह धारण किए रहते हैं, घर में ईश्वर के प्रतीक मौजूद होते हैं, ईश्वर के निमित्त कहे जाने वाले कर्मकांडों का आयोजन होता रहता है। ईश्वर भक्त कहलाने वालों का स्वागत-सत्कार, भेंट-पूजा होती रहती है। यह सब इसलिए होता है कि लोग उनके संबंध में अच्छे ख्याल रखें, उनका आदर करें, उन्हें धर्मात्मा समझें, उनके जीवन भर के कुकर्मों की कलाई न खोलें और आज भी जो उनके दुष्कर्म चल रहे हैं, वे छिपे रहें।

चौथे प्रकार के नास्तिक वे हैं जो पाप छिपाने या धन कमाने के लिए नहीं किंतु अपने को पुजवाने के लिए, यश और श्रद्धा प्राप्त करने के लिए ईश्वर भक्त बनते हैं, इसके लिए कुछ त्याग और कष्ट भी उठाते हैं, पर भीतर से उन्हें प्रभु की सर्वव्यापकता पर आस्था नहीं होती। कुछ लोग रिश्वत के रूप में ईश्वर भक्ति को साधते हैं, अमुक भोग-ऐश्वर्य की लालसा उन्हें उसी मार्ग पर ले जाती है, जिस प्रकार आजकल घूसखोर हाकिमों को एक मोटी रकम झुकाकर लोग मनमाना काम करवा लेते हैं और थैली खर्च करके थैला भरने में सफल हो जाते हैं। कुछ लोग तथाकथित ऋद्धि-सिद्धियाँ और न जाने किन-किन अप्रत्यक्ष वैभवों के मनसूबे बाँधकर उसे प्राप्त करने की फिकर में ईश्वर के दरवाजे खटखटाते रहते हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्षतः ईश्वर भक्त दिखाई देने वालों में भी असंख्यों मनुष्य ऐसे हैं, जिनकी भीतरी मनोभूमि परमात्मा से कोसों दूर है। उनका निजी जीवन, घरेलू आचरण, व्यक्तिगत व्यवहार ऐसा नहीं होता, जिससे यह प्रतीत हो कि यह ईश्वर को हाजिर-नाजिर समझकर अपने को बुराइयों से बचाते हैं। ऐसे लोगों को किस प्रकार आस्तिक कहा जाए? जो पापों में जितना ही अधिक लिप्त हैं, जिसका व्यक्तिगत जीवन जितना ही दूषित है, वह उतना ही बड़ा नास्तिक है। लोगों को धोखा देकर अपना स्वार्थ साधना, छल, प्रपंच, माया, दंभ, भय,

अत्याचार, कपट और धूर्तता से दूसरों के अधिकारों को अपहरण कर स्वयं संपन्न बनना नास्तिकता का स्पष्ट प्रमाण है। जो पाप करने का दुस्साहस करता है, वह आस्तिक नहीं हो सकता, भले ही वह आस्तिकता का कितना ही बड़ा प्रदर्शन क्यों न करता हो!

ईश्वरभक्ति का जितना ही अंश जिसमें होगा वह उतने ही दृढ़ विश्वास के साथ ईश्वर की सर्वव्यापकता पर विश्वास करेगा, सबमें प्रभु को समाया हुआ देखेगा। आस्तिकता का दृष्टिकोण बनते ही मनुष्य भीतर और बाहर से निष्पाप होने लगता है। अपने प्रियतम को घट-घट में बैठा देखकर वह सबसे नम्रता का, मधुरता का, स्नेह का, आदर का, सेवा का, सरलता, शुद्धता और निष्कपटता में भरा हुआ व्यवहार करता है। भक्त अपने भगवान के लिए व्रत, उपवास, तप, तीर्थयात्रा आदि द्वारा स्वयं कष्ट उठाता है और अपने प्राणवल्लभ के लिए नैवेद्य, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, भोग, प्रसाद आदि कुछ न कुछ अर्पित किया ही करता है। 'स्वयं कष्ट सहकर भगवान को कुछ समर्पण करना' पूजा की संपूर्ण विधि-व्यवस्थाओं का यही तथ्य है। भगवान को घट-घटवासी मानने वाले भक्त अपनी पूजा विधि को इसी आधार पर अपने व्यावहारिक जीवन में उतारते हैं। वे अपने स्वार्थों की उतनी परवाह नहीं करते, खुद कुछ कष्ट भी उठाना पड़े तो उठाते हैं, पर जनता-जनार्दन को, नर-नारायण को अधिक सुखी बनाने में वे दत्तचित्त रहते हैं, लोकसेवा का व्रत लेकर वे घट-घटवासी परमात्मा की व्यावहारिक रूप से पूजा करते हैं। ऐसे भक्तों का जीवन-व्यवहार बड़ा निर्मल, पवित्र, मधुर और उदार होता है। आस्तिकता का यही तो प्रत्यक्ष लक्षण है।

पूजा के समस्त कर्मकांड इसलिए हैं कि मनुष्य परमात्मा को स्मरण रखे, उसके अस्तित्व को अपने चारों ओर देखे और मनुष्योचित कर्म करें। पूजा, अर्चना, वंदना, कथा, कीर्तन, व्रत, उपवास, तीर्थ आदि सबका प्रयोजन मनुष्य की इस चेतना को जाग्रत करना है कि परमात्मा की निकटता का स्मरण रहे और ईश्वर के प्रेम एवं श्रद्धा द्वारा लोकसेवा का व्रत रखे और ईश्वर के क्रोध से डरकर पापों से बचे। जिस पूजा-उपासना से यह उद्देश्य सिद्ध न होता हो, वह व्यर्थ है। जिस उपाय से भी "पाप से बचने और पुण्य में प्रवृत्त होने" का भाव जाग उठे, वह उपाय ईश्वर भक्ति की साधना ही है।

ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का मार्ग

संसार के अधिकांश दुःखों का कारण सांसारिक विषयों की कामनाएँ और भोगलिप्सा ही होती है। इससे पीड़ित व्यक्ति के लिए वास्तव में यह संसार दुःख कानन है। दुःख से घिरे हुए व्यक्ति के अंदर केवल एक ही विचार कार्य करता है कि वह निरीह और घृणास्पद है। अन्य व्यक्ति न उसके प्रति आकृष्ट होते हैं और न हार्दिक संवेदना ही प्रकट करते हैं और तो और उसका स्वयं अपने ही ऊपर से विश्वास हट जाता है। बात यही है कि दूसरों से न उसे सहायता मिलती है और न सांत्वना ही, पर उसके मन से यह बात अलग नहीं होती कि शायद किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसे दुःख से छुट्टी मिल जाए।

दुःख के अवसर पर मन से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती, क्योंकि उसकी अनर्गल इच्छाएँ ही दुःख उत्पन्न करती हैं। इच्छाओं से उत्पन्न सुख का तो वह आलिंगन करता है, पर दुःख के उपस्थित होने पर उसकी कुछ सुने बिना ही वह उसे भगा देना चाहता है। परिस्थितियों के अनुकूल होने पर यदा-कदा उसे अपनी चाल में सफलता मिल जाती है और बुद्धि निस्सहाय होकर सुषुप्ति-अवस्था में चली जाती है तथा दुःख के विषय पर गंभीर विचार करने में असमर्थ हो जाती है। मन के चक्र में फँसा हुआ प्राणी इस प्रकार अधिक काल तक दुःख भोगता रहता है। एक के बाद दूसरा—इस प्रकार कितने ही जीवन ऐसे ही नष्ट हो जाते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो दुःख की घड़ी उपस्थित होने पर उस पर विचार करते हैं और सत्संग का आश्रय लेते हैं। लेकिन अधूरे विचार और बाहरी सत्संग से उन्हें लाभ नहीं होता, क्योंकि उसमें भी दुःख भोगने के अतिरिक्त उनका कोई दूसरा अभिप्राय नहीं होता। दुःख पर विचार करते समय या सत्संग के अवसर पर उनका पूरा मन वहाँ नहीं रहता। उनका मन सदा इधर-उधर भटकता रहता है और दूसरों की बातों में दुःख से छुटकारा पाने के लिए समाधान खोजता है, जो उसे कभी नहीं मिलता है। कारण वह अपने इंद्रिय सुखों को छोड़ना नहीं चाहता। दुःख के अवसर जीवन में बार-बार आते हैं और जब-जब आते हैं। तब-तब मनुष्य को गहरी चोट पहुँचाते हैं। मनुष्य उससे तिलमिला उठता है, रोता और चिल्लाता है, पश्चात्ताप करता है और उसके मन में भोगों से मुँह मोड़ने की भी इच्छा होती है, लेकिन पुरानी आदत अवसर आने पर उसे भोग

भोगने के प्रति पुनः प्रवृत्त कर देती है और उसका पूर्व का प्रत्यय मंद पड़ जाता है। वास्तव में उसका यह दुःख भी प्रतारणा ही है। किसी कार्य के प्रति सच्चे दुःख से सजगता उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न हो, तो समझो कि दुःख का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। दुःख से यदि मनुष्य नहीं सँभला तो संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो उसे सत्पथ पर ले जा सके।

जिस मनुष्य ने जिंदगी की बातों को अर्थात् उसके सुख-दुःख को भली प्रकार समझ लिया और जिसके मन में दुःखों से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो गई है, उसे जीवनपर्यंत सत्संग करते रहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। सत्संग से बहुत कम लाभ उठाने वाले वे ही व्यक्ति होते हैं जो सदा सत्संग करते रहते हैं, लेकिन अपने को समझने की कभी कोशिश नहीं करते। अन्य सोसाइटियों की भाँति सत्संग भी उनके लिए वार्तालाप करने का एक साधन हो जाता है। कहीं दो घड़ी बैठकर वहाँ भी वे अपना मन बहला लिया करते हैं। ऐसे लोगों के अज्ञान का जल्दी अंत नहीं होता। जीवन की किसी बात को सम्मुख रखकर, जिसको कि समझने की उसे अत्यधिक आवश्यकता है। यदि वह किसी संत के पास जाता है तो संभव है कि उसे अल्पकाल के सत्संग से ही बहुत बड़ा लाभ हो जाए। लेकिन जो केवल बात सुनने एवं समय बिताने की गरज से सत्संग करता है, उसे बहुत कम और देरी से लाभ होता है। सत्संग का अभिप्राय है—मार्ग में किसी बाधा के आ जाने पर उसका समाधान कर लेना। हर बात को समझते और साधते हुए उपस्थिति होने पर सत्संग से लाभ उठाते हुए जीवन को ले चलने पर मार्ग सुगम हो जाता है।

मनुष्य का जीवन एक वाटिका है। वाटिका को अच्छी दशा में रखने के लिए उस पर सब ओर से निगाह रखनी आवश्यक है। उद्यान के सौंदर्य को नष्ट कर देने वाली कोई चीज यदि बीच में उग आती है तो चतुर माली उसे तुरंत उखाड़कर फेंकता है। बाग देखने में यदि अच्छा न हुआ तो माली का सारा परिश्रम व्यर्थ समझा जाता है। माली जमीन को खूब कमाता है और उसे मुलायम बना देता है। जमीन के सब प्रकार से अच्छी हो जाने पर वह भाँति-भाँति के पुष्प और फल के वृक्षों को यथास्थान उसमें बिठाता है। प्रवीण माली द्वारा इस प्रकार सजाया हुआ बाग देखने में सुंदर मालूम होता है। बाग के मालिक की भी वहाँ बैठने की इच्छा होती है और आगंतुकों की भी। यह जीवन भी एक उद्यान

के समान है। इसे सब प्रकार से सँभालकर रखना चाहिए ताकि इसकी स्वाभाविक प्रगति में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो। बहुत प्रकार की इच्छाओं से घिर जाने पर मनुष्य का जीवन बिना सँभाली हुई वाटिका के समान हो जाता है। इच्छाओं की पूर्ति करने में वह परिश्रम करता है और उसमें संलग्न रहता है। सफलता निकट होती है, पर प्रायः वह विफल ही रहता है। बहुत समय तक इस सुखप्राप्ति की लगन में लगे रहने के कारण उसे अनेकों प्रकार के अनुभवों से होकर गुजरना पड़ता है। सुख के बीच उसकी प्रतिक्रिया से उसे प्रत्यक्ष आघात पहुँचता रहता है। फिर भी वह उसी को सही जीवन समझता है। दुःख के बहुत बढ़ जाने पर जीवन कभी-कभी उसे भार मालूम होता है। इस घबराहट के बीच उसके मन में एक ही धुन रहती है कि विपरीत स्थिति और दुःख से किस प्रकार छुटकारा मिले? इसके लिए वह न करने योग्य कार्य भी कर डालता है। दुःख के बहुत बढ़ जाने और बुद्धि पर उसका काबू नहीं रह जाता। मन की अतिशय खिन्न दशा में तो प्राणी शरीरांत तक चाहने लगता है। अशांत चित्त की यह बहुत ही मलिन दशा है। इसलिए दुःख की साधारण दशा में होश के रहते हुए जब चित्त में सजगता उत्पन्न हो तो इस अवसर को हाथ से न जाने देना चाहिए। दुःख के समय उत्पन्न हुई सजगता के चिरस्थायी बनाए रखने के लिए उचित प्रतिविधान करना चाहिए।

चूँकि हमें अपने सुख का आवश्यकता से अधिक ध्यान रहता है, इसलिए जीवन में यह सारी गड़बड़ी और मुसीबतें हैं। इंद्रिय सुख के संबंध में प्रत्येक का यही अनुभव है कि वह ऐसा सुख नहीं है, जो मनुष्य को निश्चित कर दे। प्रत्युत वह दिनोंदिन कष्ट उत्पन्न कर बंधन को बढ़ाता ही रहता है। इस सुख में तृप्ति नहीं है। किसी भोग को कुछ समय तक स्थाई रखने से मनुष्य को उसकी आदत पड़ जाती है। फिर तो अनायास ही अचेतन मन उस काम को कर बैठता है। इंद्रिय सुखों में यदि कोई विघ्न और निर्बंध न होता तो कदाचित्त इसको भी स्वाभाविक कहा जा सकता और फिर उससे छुटकारा पाने की कोई बात न सोची जाती। संसार में दिखलाई यही देता है कि विघ्न-बाधाओं से विमुक्त होकर कोई भी व्यक्ति इंद्रिय सुखों को नहीं भोग सकता है। किसी भी सुख के भोग में सबसे बड़ा विघ्न तो अपना शरीर ही है। इसके अतिरिक्त परिस्थिति की विभिन्नता के अनुसार अनेकों प्रकार की दिक्कतें हैं जो मनुष्य के सामने रोज आया करती

हैं और मनुष्य उनका नित्यप्रति अनुभव किया करता है। देखने और विचार करने पर यह भी मालूम पड़ता है कि सुख ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसके लिए हमें बाह्य किसी भी वस्तु पर निर्भर रहना पड़ता हो या हम पर उसकी प्रतिक्रिया न होती हो। ऐसी दशा में कौन प्राणी यह कह सकता है कि उसका सुख विघ्न-बाधाओं से रहित है। जब यह दशा है तो मनुष्य के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह अपने सुख-दुःख के प्रति सजग होकर जीवन की बातों को समझने की कोशिश करे और अपनी किसी इच्छा का जबरदस्ती दमन न करके उसके रहस्य को समझे। इच्छा का रहस्य जब भली प्रकार अवगत हो जाता है, तब उसे त्याग करने में दुःख नहीं होता। उचित प्रयास द्वारा मनुष्य उसे छोड़ने में समर्थ होता है। यह काम भी आसान नहीं है। यदि मनुष्य सदा सजग रहे तो संभव अवश्य है। यदि मनुष्य अपने चिरकाल के अभ्यास को नहीं छोड़ पाता तो उसे कोई दूसरी संज्ञान युक्ति बतलाई भी नहीं जा सकती। ऐसे असमर्थ प्राणी सदा दुःख में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

मनुष्य को सच्चे मार्ग पर लाने के लिए दुःख से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। दुःख ही मनुष्य को सजग होने का अवसर प्रदान करता है। सजगता द्वारा जीवन का बोध हो जाने पर उसकी गति स्वाभाविक हो जाती है। आरंभ में चित्त पहले से भी अधिक अशांत हो जाता है, लेकिन यह अशांति सजगता के प्रकाश में धीरे-धीरे कम होने लगती है। आरंभ की यह वह परेशानी है जो जीवन को समझ की राह पर ले जाती है। जीवन की त्याज्य बातों को समझकर ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्हें आसानी से छोड़ सकने में समर्थ होता है, त्यों-त्यों उसका जीवन अधिकाधिक स्वाभाविक और गंभीर बनता जाता है। त्याग की हुई वस्तु में फिर उसका राग नहीं रह जाता। छोड़ने पर मन में उसके प्रति न कोई क्षोभ होता है और न उस पर विजय प्राप्त करने का गर्व ही। वह प्राणी अपनी किसी दशा में प्रतिहत नहीं होता। जीवन उसे अधिक रुचिकर और अपना मालूम होता है, क्योंकि उसने उसे पास से देखा है और उसके अलग-अलग पहलुओं पर गौर करना सीखा है। जीवन के साथ समवर्ती होने पर कष्ट कम होने लगता है। उसके सामने जो बात आएगी, उसे समझने के लिए वह अपना हृदय, मन और बुद्धि अर्पित कर देगा। उसके विचार और कार्य में कोई अंतर न होगा। अपने को समझाने के लिए मनुष्य को अन्य किसी व्यक्ति के उपदेश और आलोचना की आवश्यकता नहीं

होती। राग-द्वेष से प्रेरित होकर वह न किसी को अपना मित्र समझेगा और न शत्रु ही। वह मनुष्य अपने को समझने में इतना संलग्न हो जाएगा कि बाह्य वस्तुएँ उसके लिए उपेक्षणीय हो जाएँगी। दूसरों की बातों पर ध्यान देने के लिए उसके पास समय न रहेगा और वह दूसरों के प्रति कोई विरुद्ध बात ही सोचेगा। किसी को अपने से श्रेष्ठ समझकर न वह उसका प्रभुत्व स्वीकार करेगा और न किसी को अपने से न्यून समझकर उसकी उपेक्षा करेगा या उस पर प्रभुत्व दिखलाएगा। दोनों ही दशाओं में भीतर भय और भेद रहता है। इसलिए ऐसे जीवन में न समत्व होता है और न स्वाभाविकता ही। इसका परिणाम संकीर्णता और अवनति है।

जीवन में जब दूसरों का प्रभाव अधिक पड़ने लगता है, तब वह मनुष्य अपना नहीं रह जाता। उसके अंदर विचार और स्वतंत्र कार्य करने की क्षमता का अभाव हो जाता है। जीवन की ऐसी परिस्थिति में सत्य का प्रदर्शन नहीं होता। सत्य का अनुभव करने के लिए प्रत्येक प्राणी को अपना बन जाने की आवश्यकता है। सत्य की खोज करने वाले को हर्ष, शोक, मोह, अनुराग और प्रभुत्व की भावना को अपने पास नहीं आने देना चाहिए। ये दशाएँ मन को उत्तेजित करने वाली होती हैं। चित्त को ऐसी स्थिति में रखा जाए कि उस पर बाहरी कोई बात अपना प्रभाव न डाल सके। चित्त में जब आनंद और निरालंब प्रेम स्थान पा लेता है, तब अपने-परये का भेद मिट जाता है। ऐसा पुरुष न कभी उदास रहता है और न मन लगाने के लिए किसी अवलंब की आवश्यकता अनुभव करता है। जीव-जंतु और लता-बल्लियों के साथ उनका सौहार्द हो जाता है। कष्टदायक अवसरों का भी जीवन में अभाव होना आरंभ हो जाता है। मन सदा प्रसन्न और एकाग्र रहने लगता है। संसार के साथ उसका अम्लान प्रेम का संबंध स्थापित हो जाता है। संसार की प्रत्येक वस्तु में वह अपना रूप देखता है। उसको सर्वत्र सत्य का दर्शन होता है और प्रत्येक अवस्था उसके लिए आनंद की अवस्था हो जाती है। वायु के रूप में वह संसार की सैर करेगा। फूल-पत्तियों और घास के साथ वह नृत्य करेगा, आकाश उसका रूप होगा, जल, पृथ्वी और अग्नि उसके बाह्य प्रतीक होंगे। संसार की प्रत्येक वस्तु के साथ जब एकता और मैत्री स्थापित हो जाएगी। तब वह खिन्न और भयांतुर क्यों रहेगा? शुद्ध और पवित्र मन के अंदर उच्च और वांछित भावना उदय होती है। उद्बोधित पुरुष संसार में आनंद-प्रसार करने के केंद्र बन जाते हैं। व्यक्त और अव्यक्त दोनों दशाओं में उनके द्वारा कार्य

संपादन होता रहता है। आनंद-उपलब्धि की यह एषणा स्वार्थ की भावना नहीं है। इसमें निवास करने से मन के संकल्प-विकल्पों का तिरोभाव हो जाता है। जीवन की इस स्थिति में प्रयास नहीं रह जाता। यह जीवन की शुद्ध और सात्विक सहज दशा है। ऐसे व्यक्ति को देखकर दूसरे प्राणी भी इस शुद्ध भावना को ग्रहण करने की इच्छा करने लगते हैं और इस ओर अपना प्रयास आरंभ कर देते हैं। इस शुद्ध अवस्था की प्राप्ति एक ही क्षण में नहीं हो जाती, पर इसमें हताश होने की कोई बात नहीं है। सत्य सबके लिए एक और अनिवार्य है। सभी एक न दिन इसे प्राप्त करेंगे। प्रश्न केवल समय का हो सकता। इसके लिए सबसे आवश्यक बात है—तीव्र वेग का होना; तीव्र वेग वाले प्राणी उसे शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं। इन्हें इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। देर तो उनको लगती है, जो शब्द-वेग के कारण रास्ते में रुककर इधर-उधर की सैर करने लगते हैं।

भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा लोगों ने इसकी खोज की और उनका कहना है कि सत्य की प्राप्ति के लिए मार्ग अनेक हैं, किंतु सत्य की प्राप्ति का मार्ग केवल एक है और वह है—“सृष्टि और जीवन के रहस्य को समझना।” इसे लोग जब तक भली प्रकार नहीं समझ लेते, तब तक वे अनेक मार्ग और अनेक उपायों द्वारा अनुभव करने की चेष्टा करते रहते हैं। लोग कहते हैं कि ईश्वर घट-घट में व्याप रहा है, लेकिन वह भी केवल मुँह से ही कहते हैं। इस सत्य को समझ लेने पर प्राणी अपने प्रत्येक कार्य का जिम्मेदार हो जाता है। वह अपनी अंतरात्मा की ध्वनि को सुनता है और उसके अनुसार आचरण करता है अर्थात् वह प्रत्येक कार्य में अपने हृदय और मन को एक करके कार्य करने की चेष्टा करता है। हृदय और मन में एक्य ही बुद्धि का विकास है। अंतःकरण में ईश्वर, सत्य तथा जीवन की अनुभूति हो जाने पर प्राणी अपने समस्त कार्यों के प्रति सावधान हो जाता है। उसका यह पथ जीवन की वास्तविकता को सामने रखता है। इससे जीवन स्वाभाविक और सरल बनता है। फिर उसके अंदर ईश्वरप्राप्ति और सत्य को जानने की भी कोई इच्छा नहीं रह जाती, प्रत्युत उसका जीवन ही सत्य हो जाता है। उसका प्रत्येक आचरण, व्यवहार और कार्य इस प्रकार का होता है कि उससे कोई कर्म बंधन स्थापित नहीं होता। इस प्रकार का समत्वमय जीवन ही सत्य है और इसमें ईश्वर का दर्शन है।

सत्य की अनुभूति के बाद सब बातों और सब दशाओं में मनुष्य अपनी सत्ता का अनुभव करता है। संदेह उसके मन से हट जाता है। प्रत्येक स्थिति में वह सत्य के अंदर निवास करता है। अकेलेपन की भयावह दशा का अंत हो जाता है। प्रतिक्षण सत्य के सम्मुख होने से वह सदा आनंद में निवास करता है।

सत्य-विहीन की दशा जल से बिछुड़ी हुई मछली की सी होती है। कुछ क्षण तक जीवित तो रहते हैं लेकिन उनके जीवन में आनंद, उत्साह और सार नहीं रहता। उनकी दशा उस मीन की सी होती है, जो किसी मछुए के जाल में फँसकर अतिशय दुःख से प्राण त्याग करती है। अपने किसी क्षणिक सुख के कारण यदि किसी मनुष्य ने अपनी दशा को इससे कुछ अतिरिक्त समझा है तो वास्तव में वह भ्रांत है और अपने जीवन को भली प्रकार नहीं समझ रहा है। संसार एक बहुत ही बड़ा जाल है, उसके असंख्य छिद्रों में मनुष्य अपनी इच्छाओं की तृप्ति देखता है और लोभ-मोह के कारण उसमें फँसने की चेष्टा करता है। एक बार फँस जाने पर उससे निकलना कठिन है। अतः मनुष्य को श्वास-प्रश्वास में सचेत रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है।

पूर्ण सचेत हो जाने पर कर्त्तापन का भाव भी जाता रहता है और उसे कोई वस्तु अपने में फँसा नहीं पाती। आनंद की सत्ता से अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु जब दूसरी नहीं है, तब संसार का क्षणिक सुख-दुःख पश्चिम में डूबते हुए सूर्य की भाँति मन के दूर देश में कहीं अस्त हो जाता है। यह जीवन में तटस्थता की दशा है, जहाँ संसार के वैभव आकाश में स्थिति प्राप्तः कालीन नक्षत्रों की भाँति फीके होकर आनंद के परम प्रकाश में विलीन हो जाते हैं। आनंद की प्राप्ति के पश्चात् संसार की बातों का चित्त पर असर ही नहीं होता। फिर कोई भी पदार्थ अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। सारे प्रपंच मिट जाते हैं।

जब यही एक वस्तु जीवन में प्राप्त करने के योग्य है, बल्कि यही जीवन है, तब मनुष्य यहाँ के सुख-दुःख के पचड़े में पड़कर व्यर्थ अपना समय क्यों नष्ट करता है? मार्ग में यदि कोई प्रतिरोध आ जाए तो उस पर विचार करना चाहिए और उसे समझने की कोशिश करनी चाहिए। आनंद को संपूर्ण रूप में प्राप्त कर लेने की प्रत्येक मनुष्य के अंदर अभिलाषा होनी चाहिए। इस पथ पर चलते हुए भी ऐसा नहीं है कि दुःख न पावे। दुःख के आने पर उसे टालने की

व्याकुलता न हो। ऐसा करने से लगन के होते हुए भी लक्ष्य तक पहुँचने में विलंब होगा।

आनंद की अनुभूति कोई किसी को करा दे, यह संभव नहीं है। अपने ही प्रयास से जीवन की यह स्थिति प्राप्त की जाती है। यह कोरी कल्पना नहीं है। बोधपूर्वक प्रयास करने पर इसमें सफलता मिलती है, यह ध्रुव सत्य है। प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुषार्थ और प्रयास के द्वारा इसे प्राप्त कर सकता है। लोगों के जीवन में विभिन्नता अवश्य दृष्टिगोचर होती है, लेकिन यह कोई रुकावट नहीं है। सत्य वस्तु में कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है।

चूँकि बहुतों के मन में सत्य को जान लेने की इच्छा और लगन है और किसी सरल मार्ग की खोज है, इसलिए उनको इस पथ पर चलने के लिए प्रस्तुत हो जाना चाहिए। एक बार सजग होकर पैर आगे बढ़ा देने पर फिर निराश नहीं होना पड़ता और मनुष्य पीछे कदम हटाना पसंद नहीं करता। समझ-बूझकर जब हम इस पथ पर पैर रखेंगे, तब हमारे अंदर सुख-दुःख के रहस्य को समझने की क्षमता आ जाएगी। सुख का प्रसंग आने पर हमें फूलना नहीं चाहिए और दुःख के प्रसंगों से घबराना नहीं चाहिए। बल्कि उनके बीच में रहते हुए उनके रहस्य को समझकर उनसे मुक्त हो जाना चाहिए।

आनंद ही एकमात्र सत्य है। यही एक स्वाभाविक मंदिर है, जहाँ सबको आना है। यहाँ बैठकर आप सच्चे ध्यान में निमग्न हो सकते हैं। इसको एक बार दृढ़तापूर्वक अपना लेने से सारा संदेह दूर हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य संसार का हो जाता है और संसार उसका हो जाता है। 'अहं' की पृथक भावना मिटकर विराट में लीन हो जाती है। राग-द्वेष की अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है।

इस आत्यंतिक आनंद के प्राप्त कर लेने पर मनुष्य स्वतंत्रपूर्वक संसार में विचरण करता है। जो मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र हैं और आनंद में स्थित हैं, वे संसार के सामने कुछ सही बात रख सकते हैं। आनंद में प्रतिष्ठित हो जाने पर पुरुष प्राणीमात्र का मित्र हो जाता है और प्रेम ही उसका मुख्य आचरण रहता है, प्रेम के अतिरिक्त उसके पास और कोई वस्तु नहीं रहती। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर एक को अनेक में देखने की क्षमता स्वाभाविक ही रहती है। यही मोक्ष की स्थिति है।

ब्रह्मज्ञान का मार्ग कठिन नहीं

यद्यपि सांसारिक लोग ब्रह्मज्ञान को बड़ा कठिन प्रायः असंभव मानते हैं, पर यह एक बड़ी भूल है। ब्रह्मज्ञान अथवा अध्यात्मिकता मनुष्य के जीवन में आदिकाल से ओत-प्रोत है, इसलिए उसे समझ सकना और पालन कर सकना कुछ कठिनाई जान पड़ती है, उसका कारण यही है कि इन दिनों संसार वास्तविकता को छोड़कर कृत्रिमता में बहुत अधिक लिप्त हो गया है। इसलिए जो मार्ग मनुष्य के वास्ते सीधा, सरल और हितकारी था, वही उसे कठिन और असंभव जान पड़ता है, पर यदि विचारपूर्वक देखा जाए, तो भलाई एवं पवित्रता का मार्ग पाप और नीचता की अपेक्षा कहीं सरल है। भलाई में जो स्वाद है, पवित्रता में जो आनंद है, वह पाप और नीचता के सरूर से अधिक मजेदार है। भलाई करना पाप करने से ज्यादा आसान है क्योंकि परमात्मस्वरूप मनुष्य की प्रवृत्ति स्वभावतः पवित्रता की ओर है। पाप और नीचता बड़े अप्राकृतिक हैं। मनुष्य नहीं चाहता कि वह निकृष्टता के पंजे में फँस जाए। उस मार्ग पर चलने में उसे पग-पग पर अपनी आत्मा का संहार करना पड़ता है, मन की रुचि पर बलात्कार करना होता है, तब कहीं वह पाप कर पाता है।

जो व्यक्ति धूम्रपान का प्रारंभ करते हैं, उन्हें भयंकर खाँसी उठती है, नेत्रों में आँसू आ जाते हैं, शरीर में पीड़ा होती है, सर में चक्कर आते हैं, मुँह में से दुर्गंध उठती है। यह सब इसी कारण होता है क्योंकि तंबाकू अप्राकृतिक है। परमेश्वर नहीं चाहता कि हम वह कार्य करें। प्रकृति का सहयोग उसमें नहीं है। केवल हमारी अनधिकार चेष्टा ही उन दिव्यशक्तियों के विरुद्ध युद्ध करती है।

इसी प्रकार पाप एवं नीचता का प्रारंभ करने में हमारे अंतःकरण में भयंकर विक्षोभ होता है, आत्मग्लानि तथा क्लेश उत्पन्न होता है, मन किसी अज्ञात भय से थर-थर काँपता है, हमारे दुष्कृत्य में साथ देना चाहता, हमारा शरीर स्वाभाविक गति से उस ओर नहीं चलता। अड़ियल घोड़े की तरह वह स्थान-स्थान पर अटकता है और उस मार्ग पर नहीं चलना चाहता। हमारे संकल्प, हमारी धारणाएँ, हमारी वृत्तियाँ सब ही जवाब दे देते हैं। अपने मन पर अत्याचार करते हुए हम पाप में प्रवृत्त होते हैं। बार-बार उसी की आवृत्ति करते रहने से हमारी पवित्र आकांक्षाएँ मृतप्राय हो जाती हैं। जिस प्रकार जानते-बूझते हम अफीम, शराब, तंबाकू तथा अनेकों विषैले पदार्थों के अभ्यस्त हो जाते हैं

तथा हमें उनकी कड़ुवाहट भी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार अभ्यस्त हो जाने पर हमें पाप और नीचता करते हुए ग्लानि का अनुभव नहीं होता। कालांतर में हम पक्के पापी हो जाते हैं।

परमात्मा को अपने अंदर से कार्य करने दीजिए। आदिप्रभु की जो इच्छा है उसी के अनुसार चलने के लिए अपने आप को विवश कीजिए। परमात्मा को स्वयं अपनी मरजी के अनुसार चलने को मजबूर न कीजिए। तुम्हारी इच्छा एक होनी चाहिए। तुम वही सर्वशक्तिमान परमात्मा हो जिसने तमाम जगत को अपनी पवित्रता प्रदान की है और अणु-अणु में वही उत्कृष्ट तत्त्व ओत-प्रोत कर दिया है, जो सत्य है, सुंदर है तथा सर्वत्र शिव है।

आत्मनिरीक्षण द्वारा मालूम कीजिए कि कितने अंशों में तुम ईश्वरेच्छा के अनुगामी बने हो? तुम्हारे कितने कार्य परमात्मा के लिए होते हैं? कितनी देर तुम 'स्व' की पूर्ति में व्यतीत करते हो? कितनी देर तुम पूजा-उपासना में लगाते हो?

तुम्हारे विभिन्न अंगों का क्या अभिप्राय है? वे किस आशय से बनाए गए हैं? तुम्हारे नेत्रों का कार्य पवित्र से पवित्र वस्तुओं का दर्शन होना चाहिए, तुम कुरूपता में भी भव्यता खोज निकालो। प्रतिकूलता में भी सहायक तत्त्वों के दर्शन करते रहो। कठिन से कठिन और विषम से विषम परिस्थिति में भी विचलित न हो। तुम्हारे पाँव तीव्र आँधी-पानी में भी स्थिर रहें। तुम्हारे हृदय में पवित्रता की गरमी हो। शरीर में उत्साह हो। परमेश्वर का तेज अंग-प्रत्यंग से झलकता हो।

आत्मबंधुओ! हमारा इस संसार से कोई संबंध नहीं है। हम सत्-चित्-आनंद विशुद्ध परम पदार्थ आत्मा हैं। संसार और सांसारिक संबंध खिलौने मात्र हैं। अकसर हम कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति हमारा शत्रु है, अमुक हमारा मित्र है, अमुक हमारा पिता है, अमुक हमारा पुत्र है किंतु वास्तव में न कोई शत्रु है, न मित्र है न पिता है और न पुत्र। हम सब साक्षात् परब्रह्म पदार्थ हैं। हमारा संसार के क्षुद्र झगड़ों से कोई संबंध नहीं है। सुख, दुःख, छाया तथा उजेला है जो आया-जाया करता है। हमारी आंतरिक शांति भंग नहीं होनी चाहिए। हम संसार से बहुत ऊँचे हैं।

जैसे वायुयान में बैठकर आकाश में विहार करने से संसार की प्रत्येक वस्तु घरबार, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि छोटे-छोटे प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार

आत्मस्वरूप का प्रकाश करने वाले साधक को सांसारिक पदार्थ मिथ्या प्रतीत होते हैं। वह उससे बहुत ऊँचा उठ जाता है। माया-मोह के चक्र में नहीं फँसता। उसे दिव्यज्ञान वह प्रकाश प्रदान करता है, जिसकी रोशनी में उसे भव्यता, पवित्रता तथा वास्तविक सत्यता के दर्शन होते हैं।

आप संसार के साथ जुदा ही रहकर आत्मज्योति का प्रकाश कर सकें, ऐसी बात नहीं है। संसार के थपेड़े सहकर भी आप भलीभाँति दिव्यता प्राप्त कर सकते हैं। घर-गृहस्थ के अनेक उत्तरदायित्वों का पालन करते हुए भी आप सहर्ष अपने भीतर से परमात्म तत्त्व को प्रकाशित कर सकते हैं।

आप यह मानकर प्रत्येक कार्य को कीजिए कि आप परमात्मा हैं। उसी के अंग हैं। आप में, ज्ञान, सत्य, प्रेम भरा पड़ा है और आप नित्यप्रति के जीवन में उन्हीं तत्त्वों का प्रकाश कर रहे हैं। आप सर्वत्र प्रेम, दिव्यता एवं शांति का ही दर्शन करते हैं। आपकी दृष्टि केवल भव्य तत्त्वों के चिंतन में ही लगती है। आप पवित्र शब्दों का ही उच्चारण करते हैं और मनोमंदिर में सदा-सर्वदा पवित्र संकल्पों को ही स्थान देते हैं।

आपका लक्ष्य एवं आदर्श जितना दिव्य होगा उतनी ही आपको ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त होगी। जो गुण आप में नहीं है उन्हें अपने अंदर मान लीजिए। फिर उन्हीं के अनुरूप आचरण कीजिए। कालांतर में वे ही शुभ तत्त्व आप में प्रकट होंगे। आप अपने को दीन-हीन पापी नहीं, परम पवित्र निर्विकार आत्मा मानिए।

ब्रह्मज्ञान के लिए ध्यान की आवश्यकता

ब्रह्मज्ञान अथवा ईश्वर के स्वरूप को समझने और उसके अनुसार चलने के अनेक मार्ग हैं, पर भक्तिपूर्वक ईश्वर का ध्यान और भजन करना उन सबमें प्रधान है। यह एक ऐसा साधन है जो प्रत्येक ईश्वरीय मार्ग की सफलता के लिए आवश्यक है। 'गरुण पुराण' में कहा गया है—

भज इत्येव वै धातुः सेवायां परिकीर्तिता।

सत्मात्सेवाबुधै प्रोक्ता भक्तिः साधन भूयसी ॥

श्लोक का तात्पर्य है कि 'भज' धातु का अर्थ सेवा है। (भज्-सेवायां) इसलिए बुधजनों ने भक्ति का साधन सेवा कहा है। 'भजन' शब्द भज् धातु से बना है जिसका स्पष्ट अर्थ सेवा है। "ईश्वर का भजन करना चाहिए", जिन

शास्त्रों ने इस महामंत्र का मनुष्य को उपदेश दिया है उनका तात्पर्य ईश्वर की सेवा में मनुष्य को प्रवृत्त करा देना था। जिस विधि-व्यवस्था से मनुष्य प्राणी ईश्वर की सेवा में तल्लीन हो जाएँ, वही भजन है। इस भजन के अनेक मार्ग हैं। अध्यात्म मार्ग के आचार्यों ने देश, काल और पात्र के भेद को ध्यान में रखकर भजन के अनेकों कार्यक्रम बनाए और बताए हैं। विश्व के इतिहास में जो-जो अमर विभूतियाँ, महान आत्माएँ, संत, सिद्ध, जीवन-मुक्त, ऋषि एवं अवतार हुए हैं। उन सभी ने भजन किए हैं और कराए हैं पर उन सबके भजनों की प्रणाली एकदूसरे के समान नहीं है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उन्हें भेद करना पड़ा है, यह भेद होते हुए भी मूलतः भजन के आदि मूल तथ्य में किसी ने अंतर नहीं आने दिया है।

भजन (ईश्वर की सेवा) करने का तरीका ईश्वर की इच्छा और आज्ञा का पालन करना है। सेवक लोग अपने मालिकों की सेवा इसी प्रकार किया भी करते हैं। एक राजा के शासनतंत्र में हजारों कर्मचारी काम करते हैं। इन सबके जिम्मे काम बँटे होते हैं। हर एक कर्मचारी अपना-अपना नियत काम करता है। अपने नियत कार्य को उचित रीति से करने वाला राजा का कृपापात्र होता है, उसके वेतन तथा पद में वृद्धि होती है, पुरस्कार मिलता है, खिताब आदि दिए जाते हैं। जो कर्मचारी अपने नियत कार्य में प्रमाद करता है, वह राजा का कोपभाजन बनता है, जुरमाना, मौतिल्ली, तनखाह में तनज्जुली, बर्खास्तगी या अन्य प्रकार की सजाएँ पाता है। इन नियुक्त कर्मचारियों की सेवा का उचित स्थान उन्हीं कार्यों में है जो उनके लिए नियत हैं। रसोइए, सफाई कर्मचारी, पंखा झलने वाले कहार, धोबी, चौकीदार, चारण, नाई आदि सेवक भी राजा के यहाँ रहते हैं, वे भी अपना नियत काम करते हैं। परंतु इन छोटे कर्मचारियों में से कोई ऐसा नहीं सोचता कि राजा की सर्वोपरि कृपा हमारे ही ऊपर है। बात ठीक भी है। राजा के अभीष्ट उद्देश्य को सुव्यवस्थित रखने वाले राजमंत्री, सेनापति, अर्थमंत्री, व्यवस्थापक, न्यायाध्यक्ष आदि उच्च कर्मचारी जितना आदर, वेतन और आत्मभाव प्राप्त करते हैं, बेचारे सफाई कर्मचारी, रसोइए आदि को वह जीवन भर स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता।

राज्य के समस्त कर्मचारी यदि अपने नियत कार्यों में अरुचि प्रकट करते हए राजा के रसोइए, सफाई कर्मचारी, कहार, धोबी चारण आदि बनने के लिए

दौड़ पड़ें तो राजा को इससे तनिक भी प्रसन्नता और सुविधा न होगी। हजारों-लाखों रसोइए द्वारा पकाया और परोसा हुआ भोजन अपने सामने देखकर राजा को भला क्या प्रसन्नता हो सकती है? यद्यपि इन सभी कर्मचारियों का राजा के प्रति अगाध प्रेम है और प्रेम से प्रेरित होकर ही उन्होंने व्यक्तिगत शरीर सेवा की ओर दौड़ लगाई, पर ऐसा विवेकरहित प्रेम करीब-करीब द्वेष जैसा ही हानिकर सिद्ध होता है। इससे राज्य के आवश्यक कार्य में हर्ज और अनावश्यक कार्य की वृद्धि होगी, यह कार्यवाही किसी बुद्धिमान राजा को प्रिय नहीं हो सकती।

ईश्वर राजाओं का महाराज है। हम सब उसके राज्य कर्मचारी हैं, सबके लिए नियत कर्म उपस्थित हैं। अपने-अपने उत्तरदायित्व का उचित रीति से पालन करते हुए हम ईश्वर की इच्छा और आज्ञा को पूरा करते हैं और इस प्रकार सच्ची सेवा करते हुए स्वाभवतः उसके प्रिय पात्र बन जाते हैं। राजाओं को व्यक्तिगत सेवा की आवश्यकता भी है, परंतु परमात्मा को रसोइए, सफाई कर्मचारी, कहार, चारण, चौकीदार आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। वह सर्वव्यापक है, वासना और विकारों से रहित है, ऐसी दशा में उसके लिए कपड़ा, भोजन, पंखा, रोशनी आदि का कुछ उपयोग नहीं है।

ध्यान, जप, स्मरण-कीर्तन, व्रत, पूजन, अर्चन, वंदन यह सब आध्यात्मिक व्यायाम हैं। इनके करने से आत्मा का बल और सतोगुण बढ़ता है। आत्मोन्नति के लिए इन सबका करना आवश्यक है और उपयोगी भी है। परंतु इतना मात्र ही ईश्वर भजन या ईश्वर भक्ति नहीं। यह भजन का एक छोटा सा अंश मात्र है। सच्ची ईश्वर सेवा उसकी इच्छा और आज्ञाओं को पूरा करने में है। उसकी फुलवारी को अधिक हरा-भरा फला-फूला बनाने में है। अपने नियत कर्तव्य करते हुए अपनी और दूसरों की सात्विक उन्नति तथा सेवा में लगे रहना प्रभु को प्रसन्न करने को सर्वोत्तम उपाय हो सकता है।

ईश्वर का भजन कैसे किया जाए ?

साधारण रीति से सभी भगवान का नाम लेते हैं, पर जब तक उसके साथ भगवान के आदेशों के पालन का ध्यान न रखा जाए, तब तक विशेष फल प्राप्त नहीं हो सकता। भगवान का नाम जप करने के साथ दसों इंद्रियों की कुवासनाओं को त्यागकर चित्त को सदाचारी और सात्विक बनाकर जब परमात्मा का स्मरण किया जाता है तभी उसमें सच्चा लाभ प्राप्त होता है। नाम जप करने वाले के

लिए शास्त्रकारों ने दस नामापराध बताए हैं और उनसे बचे रहने का कठोर आदेश किया है। जैसे औषधि सेवन के साथ-साथ परहेज से रहना भी आवश्यक हैं, उसी प्रकार नामजप करने वालों को दस नामापराधों से बचना भी आवश्यक है। परहेज बिगाड़ने से, कृपथ्य करने से, अच्छी औषधि का सेवन भी निष्फल हो जाता है, उसी प्रकार नामापराध करने से नामजप भी निष्फल चला जाता है। दस ऋतों से, दस नामापराधों से बचकर राम नाम जपने से कोटि यज्ञों का फल प्राप्त होता है। दस ऋतु ये हैं—

**सान्निदासति नामवैभव कथा श्रीशेशयोर्भेदधीर-
श्रद्धा गुरु शास्त्र वेद वचने नाम्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीतिनिषिद्ध वृत्ति विहित त्यागौहि धर्मान्तरेः
साम्यं नाम जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश ॥**

(१) सन्निदा (२) असति नाम वैभव कथा (३) श्रीशेशयोर्भेदधीः
(४) अश्रद्धा गुरुवचने (५) शास्त्रवचने (६) वेदवचने (७) नाम्यर्थवाद भ्रमः
(८) नामस्तीति निषिद्ध वृत्ति (९) विहित त्याग (१०) धर्मान्तरे साम्यम्—ये
दस नामापराध या ऋत हैं, इनको त्यागने से नामजप का कोटि यज्ञ फल प्राप्त होता है। इन दसों का खुलासा नीचे किया जाता है—

(१) सन्निदा—सत् पुरुषों की, सज्जनों की, सत्य की, सच्चे कार्यों की, सत्य सिद्धांतों की किसी स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर निंदा करना। सत्य पर चलने की, सत् सिद्धांतों को अपनाने का किसी लाभ या भय से साहस न होता हो तो लोग अपनी कमजोरी छिपाने के लिए सत्य बातों का या सत् पुरुषों का ही किसी मिथ्या आधार पर विरोध करने लगते हैं, यह 'सन्निदा' है। शत्रु में भी सत्यता हो तो उस सत्यता की तो प्रशंसा ही करनी चाहिए।

(२) असति नाम वैभव कथा—असत्य के आधार पर बड़े हुए व्यक्तियों या सिद्धांतों के नाम या वैभव की प्रशंसा करना। कितने ही झूठे, पाखंडी, अत्याचारी व्यक्ति अपनी धूर्तता के आधार पर बड़े कहलाने लगते हैं। उनकी चमक-दमक से आकर्षित होकर उनकी प्रशंसा करना या उनके वैभव का लुभावना वर्णन करना त्याज्य है। असत्य की सदा निंदा ही की जानी चाहिए। झूठे आधार पर मिली हुई सफलताओं को इस प्रकार समझना या समझाना कि उसका अनुकरण करने का लोभ पैदा हो, नामापराध है।

(३) **श्रीशेशयोर्भेदधीः**—विष्णु, महादेव और देवताओं में भेद-बुद्धि रखना, उन्हें अलग-अलग मानना। एक ही सर्वव्यापक सत्ता की विभिन्न शक्तियों के नाम ही देवता कहलाते हैं। वस्तुतः परमात्मा ही एक देव है। अनेक देवों के अस्तित्व के भ्रम में पड़ना—नामजप करने वाले के लिए उचित नहीं।

(४) **अश्रद्धा गुरुवचने**—सद्गुरु, धर्मावद्, तत्त्वदर्शी, निस्पृह, आप्तपुरुषों के सद्वचनों में अश्रद्धा रखना। विरोध न करते हुए भी उदासीन रहना अश्रद्धा कहलाती है। सद्गुरुओं के लोकहितकारी सद्वचनों में श्रद्धा रखनी चाहिए।

(५) **अश्रद्धा शास्त्रवचने**—शास्त्र के वचनों में अश्रद्धा रखना यों तो कितनी ही पुस्तकें सांप्रदायिक परस्पर विरोधी और असंगत बातों से भरी रहने पर भी शास्त्र कहलाती हैं, पर वास्तविक शास्त्र वह है जो सत्यता, लोकहित, कर्तव्यपरायणता और सदाचार का समर्थन करता हो। इस कसौटी पर जो ज्ञान खरे सोने के समान ठीक उतरता हो, वह शास्त्र है। ऐसे शास्त्रों के वचनों पर अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए।

(६) **अश्रद्धा वेदवचने**—अर्थात् वेद वाक्य में अश्रद्धा रखना। वेद ज्ञान को कहते हैं। ज्ञानपूर्ण, सद्बुद्धिसम्मत वचनों में अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए। वेद, सत्य ज्ञान के आधार होने के कारण श्रद्धा करने योग्य हैं।

(७) **नाम्यर्थवाद भ्रमः**—नाम के अर्थवाद में भ्रम करना। ईश्वर के अनेक नामों के अर्थ में जो भिन्नता है, उसके कारण भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। गोपाल, मुरलीधर, यशोदानंदन, राम, रघुनाथ, दीनबंधु, अल्लाह, गौड़ आदि नामों के शब्दार्थ पृथक-पृथक हैं। इन अर्थों से तत्त्व के अलग-अलग होने का भ्रम होता है, यह ठीक नहीं। सब नाम उस एक परमात्मा के हैं। इसलिए परमात्मा के संबंध में किसी पृथकता के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए।

(८) **नामास्तीति निषिद्ध वृत्तिः**—नाम तो है ही फिर अन्य बातों की क्या जरूरत, ऐसी निषिद्ध वृत्ति। ईश्वर का नाम उच्चारण करने मात्र से सब पाप कट जावेंगे, इसलिए पाप करने में कुछ हर्ज नहीं, ऐसा कितने ही लोग सोचते हैं। दिन-रात कुविचारों में और कुकर्मों में लगे रहते हैं, उनके फल से बचने का सहज नुसखा खोजते हैं, कि दो-चार बार रामनाम जवान से कह दिया बस बेड़ा पार हो गया। सारे पाप नष्ट हो गए। यह भारी अज्ञान है। परमात्मा निष्पक्ष,

सच्चा न्यायाधीश है। वह खुशामद करने वाले के न तो पाप माफ करता है और न बिना खुशामद करने वाले के पुण्यों को रद्द करता है। कर्मों का यथायोग्य फल देना उसका सुदृढ़ नियम है। इसलिए आत्मबल वृद्धि के लिए नाम-स्मरण करते हुए भी यही आशा करनी चाहिए कि परमात्मा हमारे भले-बुरे कर्मों का यथायोग्य फल अवश्य देगा। जो पाप-नाश की आशा लगाए बैठे रहते हैं और कुमार्ग को छोड़कर सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न नहीं करते वे नामापराध करते हैं।

(९) **विहित त्याग**—विहित कर्मों का त्याग, उत्तरदायित्व का छोड़ना, कर्तव्य धर्म से मुँह मोड़ना नामापराध है। कितने ही मनुष्य 'संसार मिथ्या है, दुनियाँ झूठी है।' आदि महावाक्यों का सच्चा रहस्यमय अर्थ न समझकर अपने कर्तव्य, धर्म एवं उत्तरदायित्व को छोड़कर घर से भाग जाते हैं, इधर-उधर आवारागर्दी में, दुर्व्यसनियों के कुसंग में मारे-मारे फिरते हैं; यह अनुचित है। ईश्वरप्रदत्त उत्तरदायित्वों और कर्तव्य धर्मों को पूरी सावधानी और ईमानदारी से पूरा करते हुए भगवान का नाम स्मरण करना चाहिए।

(१०) **धर्मान्तरैः साम्यम्**—धर्म से इतर, धर्मविरुद्ध बातों को भी धर्म की समता में रखना। अनेक सामाजिक कुरीतियाँ ऐसी हैं जो धर्म विरुद्ध होते हुए भी धर्म में स्थान पाती हैं। जैसे पशुबलि एवं स्त्री और शूद्रों के साथ होने वाली असमानता तथा अन्याय के व्यवहार धर्म के नाम पर प्रचलित हैं, पर वास्तव में अधर्म हैं। ऐसे अधर्मों को धर्म से जोड़ना, धर्म कहलाते हैं। अकर्तव्यों को रूढ़िवाद के कारण धर्म-साम्य नहीं बनाना चाहिए।

इन दस ऋतों से शुद्ध होकर, इन्हें त्यागकर, दसों इंद्रियों को संयम में रखकर, सत्य और धर्म से जीवन को ओत-प्रोत बनाते हुए जो लोग नामजप करते हैं, भगवान का मंत्रोच्चार करते हैं उन्हीं की आत्मा पवित्र होती है और वे ही कोटि यज्ञफल के भागी होते हैं। वैसे तो तोते भी राम-राम रटते रहते हैं, पर इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। पाठकों को दस ऋत होकर ही नाम जप करना चाहिए और याद रखना चाहिए कि—

राम नाम सब कोई कहे, दशऋत कहे न कोय।

एक बार दशऋत कहे, कोटि यज्ञ फल होय ॥

अपनी प्रवृत्ति को अंतर्मुखी बनाइए

समस्त आध्यात्मिक उपदेशों का सारांश यही निकलता है कि हमारी प्रवृत्ति बहिर्मुखी होने के बजाय अंतर्मुखी होनी चाहिए। चेतना का प्रकाश जिस ओर जाता है उसी ओर आलोक हो जाता है और जिस ओर उसका प्रकाश नहीं जाता उस ओर अंधकार हो जाता है। चेतना के प्रकाश में दो विशेषताएँ हैं— एक वह पदार्थ का ज्ञान कराता है और दूसरे, वह उसे प्रिय बनाता है। उससे जिस ओर हमारी चेतना जाती है अर्थात् जिन वस्तुओं की ओर हम ध्यान देते हैं, वे न केवल हमें ज्ञात हो जाती हैं वरन वे हमें प्रिय हो जाती हैं। जिन बातों के बारे में हम कुछ जानते नहीं, वे हमें प्रिय भी नहीं होतीं। मनुष्य को जो वस्तु प्यारी लगती है, वह उसकी वृद्धि करने की भी चेष्टा करता है। इस प्रकार चेतना से प्रकाशित वस्तुओं की वृद्धि इसी प्रकार होती है। शरीर की उन्नति भी शरीर के विषय में सोचने से होती है।

जब मनुष्य बहिर्मुखी रहता है तो वह सांसारिक उन्नति करता है। उसके धन, यश और मान-प्रतिष्ठा बढ़ते हैं, पर उसका स्वत्व अंधकार में रह जाता है। अंधकार में रहने के कारण न तो मनुष्य को अपने आपका कुछ ज्ञान होता है और न उसे अपने आप प्रिय ही लगता है। इतना ही नहीं, बहिर्मुखी व्यक्ति को अकेला छोड़ दिया जाए तो वह अपने आप से इतना विफल हो जाएगा कि आत्महत्या करने की इच्छा होने लगेगी। यदि किसी कारण से बहिर्मुखी व्यक्ति को कभी अकेले रह जाना पड़ता है तो वे जीवन से निराश हो जाते हैं। उनके विचार उनके नियंत्रण में नहीं रहते। उनकी मानसिक ग्रंथियाँ उन्हें भारी त्रास देने लगती हैं और उन्हें जीवन भार रूप हो जाता है।

चेतना का प्रकाश बाहर जाने से मनुष्य के मन में अनेकों प्रकार के संस्कार पड़ते हैं। ये सभी संस्कार मानसिक क्लेश के कारण बन जाते हैं। इनसे आत्मा की प्रियता कम हो जाती है और बाहरी पदार्थों की ओर आकर्षण बढ़ जाता है। इस प्रकार मनुष्य की चेतना के पीछे सांसारिक पदार्थों की इच्छाओं के रूप में एक अचेतन मन की सृष्टि होती है। जो व्यक्ति जितना ही बहिर्मुखी है, उसकी सांसारिक पदार्थों की इच्छाएँ उतनी ही प्रबल होती हैं। इन ग्रंथियों के कारण मनुष्य का आंतरिक स्वत्व दुखी हो जाता है। वह फिर चेतना के प्रकाश को अपने आप के पास बुलाने का

उपाय रचता है। रोग की उत्पत्ति अपने आप की ओर चेतना के प्रकाश के बुलाने का उपाय है।

मनुष्य का वैयक्तिक अचेतन मन उसकी मानसिक ग्रंथियों और दलित इच्छाओं का बना हुआ है। दबी हुई इच्छाओं का चेतना पर प्रकाशित होने से रेचन हो जाता है और बहुत सी मानसिक ग्रंथियाँ इस प्रकार खुल जाती हैं, पर इससे मानसिक ग्रंथियों का बनना रुकता तक नहीं। नई मानसिक ग्रंथियाँ बनती ही जाती हैं। इस प्रकार अचेतन मन का नया भार तैयार होता जाता है। मनोविश्लेषण चिकित्सा से मनुष्य की व्याधि विशेष का उपचार हो जाता है, पर उससे मूल रोग नष्ट नहीं होता।

जब मनुष्य अंतर्मुखी हो जाता है तो बाह्य पदार्थों की प्रियता चली जाती है। उसके कारण वे मनुष्य के मन पर अपने दृढ़ संस्कार नहीं छोड़ते। इस प्रकार नया कर्म विपाक बनना बंद हो जाता है। सदा आध्यात्मिक चिंतन करने से मनुष्य की पुरानी मानसिक ग्रंथियाँ खुल जाती हैं। अब उसे अपने सुख के लिए इधर-उधर दौड़ना नहीं पड़ता। उसे अपने विचारों में असीम आनंद मिलने लगता है। अब अनेक प्रकार की सांसारिक चिंताएँ किसी प्रकार की मानसिक अशांति उत्पन्न नहीं करतीं। मनुष्य निजानंद में निमग्न रहता है। ऐसा व्यक्ति सदा साम्यावस्था में रहता है।

चेतना का प्रकाश धीरे-धीरे भीतर की ओर मोड़ा जाता है। इसके लिए नित्य अभ्यास और विचार की आवश्यकता है। जब मनुष्य को बाह्य विषयों से विरक्ति हो जाती है अर्थात् जब वे उसे दुःख रूप प्रतीत होने लगते हैं, तभी वह सुख को अपने भीतर खोजने की चेष्टा करता है। मन के हताश होने की अवस्था में मनुष्य के विचार स्थिर नहीं रहते, वह सभी प्रकार के प्रयत्नों को संदेह की दृष्टि से देखने लगता है। अतएव एकाएक मन को अंतर्मुखी नहीं बनाया जा सकता पर धीरे-धीरे उसे अभ्यास के द्वारा अंतर्मुखी बनाया जा सकता है।

जब मनुष्य अंतर्मुखी होता है तो उसे ज्ञात होता है कि मनुष्य का मानसिक संसार उसके बाह्य संसार के फैलाव से कम नहीं है। जितना बाह्य संसार का विस्तार है, उससे कहीं अधिक आंतरिक संसार का है अर्थात् मनुष्य को आत्मस्थिति प्राप्त करने के लिए उतना ही अधिक अध्ययन, विचार और अन्वेषण करना पड़ता है, जितना कोई भौतिक विज्ञान में रुचि रखने वाला अन्वेषक करता है।

संसार की सभी वस्तुएँ आत्मसंतोष के लिए हैं। यदि मनुष्य को आत्म-संतोष का सरल मार्ग ज्ञात हो जाए तो वह सांसारिक पदार्थों के पीछे क्यों दौड़े ? पर यह आत्मसंतोष प्राप्त करना सरल काम नहीं है जितनी कठिनाई किसी इच्छित बाह्य पदार्थ के प्राप्त करने में होती है, उससे कहीं अधिक कठिनाई आत्मज्ञान प्राप्त करने में होती है। आत्मज्ञान मन की साधना से उत्पन्न होता है। जब तक मन निरवलंब नहीं हो जाता, तब तक निज स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, पर मन का सहज स्वभाव है आत्मा से इतर वस्तु पर अवलंबित होकर रहना। उसे अपनी इस आदत से मुक्त करने में जितना प्रयास करना पड़ता है, वह कल्पनातीत है।

ईश्वरवाद में विश्वास रखने और उसके ध्यान में तल्लीन होने का मुख्य उद्देश्य यही कि आत्मा अपने वास्तविक सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को समझकर स्वावलंबी बन सके। ईश्वर की उपासना के द्वारा हम 'दिव्य सत् तत्त्व' की आराधना करते हैं, जिससे हमारी आत्मा तमोगुण और रजोगुण से छूटकर सत् तत्त्व में सरावोर हो जाए। नाना विधि-विधानों से, अनेकानेक कर्मकांडों से संसार भर में ईश्वर की जो पूजा-उपासना होती हुई दिखलाई पड़ती है, उस सब का मर्म यही है कि जीव ईश्वरीय सत्-तत्त्व के अधिकाधिक समीप पहुँचता जाए और अंत में स्वयं भी वैसा ही बन जाए। उस अवस्था को प्राप्त हो जाने से आनंद की सीमा नहीं रहती। अनंत आनंद में उसकी चेतन तल्लीन हो जाती है। सत्त्वगुण की इसी परिपूर्णता को ब्रह्म की प्राप्ति कहते हैं।

